सूफीवाद: दर्शन और राजनीति

डॉ. शंकर शरण

चिन्तन-सृजन

वर्ष-6 , अंक-4

सूफीवादः दर्शन और राजनीति

शंकर शरण*

इस लोक सभा चुनाव में 'सैक्यूलर दलों और उम्मीदवारों' को जिताने के लिए देश भर में सूफी सन्तों की एक यात्रा सम्पन्न हुई। नाम था सनातन सन्त सूफी यात्रा। इसका नेतृत्व अजमेर स्थित वर्ल्ड सूफी काउंसिल के चेयरमैन सैयद मुहम्मद जिलानी ने किया। उनके साथ सूफी दरगाह, राउरकेला, शेख हारुन राशिद दरगाह, बड़ौदा, और सैयद यासीन शाह बुखारी की दरगाह, हैदराबाद के सूफी थे। साथ में अयोध्या के एक महन्त जन्मेजय शरण महाराज समेत कुछ हिन्दू भी। विगत 8 से 23 अप्रैल के बीच हुई इस यात्रा में सूफी नेताओं ने दिल्ली, हैदराबाद, भोपाल, वाराणसी, पटना, बंगलौर, राँची, लखनऊ, इलाहाबाद, अहमदाबाद, जयपुर, गौहाटी आदि शहर जाकर संदेश दिया।

यह सूफी सन्त यात्रा कई अर्थ में अनोखी थी, यद्यपि पहली नहीं। अपनी सभी प्रेस कांफ्रेंसों में उन्होंने दुहराया कि वे उन दलों और नेताओं का विरोध करेंगे ''जो देश की सेक्यूलर सरंचना को नहीं समझते'', जो ''धार्मिक उग्रवाद फैलाते हैं'', तथा ''धर्म के नाम पर लोगों को बाँटते हैं''[1] सूफी सैयद साहब के अनुसार 'इस्लाम और सनातन धर्म की विकृत व्याख्या करने वाले साम्प्रदायिक सौहार्द बिगाड़ते हैं। सहनशीलता, भाईचारा और वसुधैव कुटुम्बकम् को कुछ शैतानी ताकतें तहस-नहस करने में लगी हैं। इसलिए वे ऐसे राजनीतिकों से सावधान रहने को कह रहे हैं जो जहरीले भाषण देकर देश की सामुदायिक शान्ति भंग करते हैं।

किन्तु दिलचस्प यह कि इस सूफी यात्रा में नाम लेकर केवल बी.जे.पी की निन्दा की गई। इन्होंने मात्र बी.जे.पी. से लोगों को सावधान किया जो 'धर्म को राजनीति से जोड़कर' राजनीतिक लाभ उठाने की कोशिश कर रही है[2]। यद्यपि उन्होंने बी.जे.पी के चुनावी मुद्दे, आवाहन, चुनाव घोषणापत्र, किसी बड़े नेता के भाषण आदि किसी चीज का उल्लेख नहीं किया जिससे पता चलता हो कि यह पार्टी अपने किस

* IV/28, एन.सी.ई.आर.टी. आवास, नसीरपुर रोड, द्वारका, नई दिल्ली 110045, bauraha@gmail.com

नारे, घोषणा या वादे से 'धर्म को राजनीति से जोड़' रही है। किसी भी तरह परखें तो बी.जे.पी. ने यह सुकर्म करने का साहस नहीं दिखाया हैं।

लेकिन सूफी सैयद साहब की समझ से ही देखें, तो देश में विभिन्न स्थानों से यही चुनाव लड़ रही ऑल इंडिया इत्तेहादे मिल्लत काउंसिल, ऑल इंडिया मुस्लिम लीग, पी.डी.पी., उलेमा काउंसिल जैसी अनेक जमातें क्या कर रही हैं? उस से भी गम्भीर प्रश्न यह कि 'मजहबी उग्रवाद फैलाने' में तबलीगी जमात, स्टूडेन्ट इस्लामिक मूवमेन्ट ऑफ इंडिया, इंडियन मुजाहिदीन, जमाते इस्लामी, देवबन्दी मदरसे आदि की क्या भूमिका है? शायद कुछ नहीं! इसलिए सूफी साहबान ने इन संगठनी का नाम नहीं लिया, न इन से लोगों को सावधान किया। अर्थात् उनकी बुद्धि से सेक्यूलर संरचना को कट्टर इस्लामपंथियों, जिहादी उग्रवादियों से कोई खतरा नहीं। जो है सो केवल बी.जे.पी. से। इसलिए इस यात्रा को मुस्लिम बेबसाइटों पर काफी जगह मिली। या फिर स्वनाम-धन्य टाइम्स ऑफ इंडिया में, जिसने वाराणसी, बंगलौर आदि कई शहरों से इस यात्रा की रिपोर्ट छापी। दरअसल, भारत में 'सेक्यूलर' का अर्थ सब समझते हैं। इसलिए इस की अपील होते ही फिर कुछ बताने की जरूरत नहीं रह जाती। आधुनिक, प्रगतिशील और सेक्यूलरपंथी हिन्दू तो 'सूफी' शब्द सुनते ही तुरन्त मोहित हो उठता है। वह न तो सूफी इतिहास जानता है, न वर्तमान। किन्तु इस के प्रति उस में एक अन्धविश्वासी श्रद्धा है।[3] हमारे अधिकांश पत्रकार इसी श्रेणी के होते हैं।

इसीलिए उन्होंने इस यात्रा के सूफियों से कोई आवश्यक या गम्भीर प्रश्न नहीं पूछा। जैसे, सूफियों को सर्वोच्च स्तर की राजनीति में इतनी दिलचस्पी क्यों? ये 'वर्ल्ड सूफी काउंसिल' क्या किसी और देश में भी सेक्यूलर नेताओं, दलों को जिताने की अपील करती है, या यह इज्जत सिर्फ भारत को बख्शी है? ईरान, पाकिस्तान, बंगला देश, सउदी अरब, इंडोनेशिया, मलेसिया, मोरक्को आदि देशों में भी चुनाव होते हैं, सूफी उन देशों को मजहबी नेताओं, मजहबी उग्रवाद आदि से बचाने की चिन्ता करते हैं क्या? सेक्यूलरिज्म केवल भारत के लिए मुफीद क्यों और एक मात्र तुर्की को छोड़कर विश्व के शेष सभी 56 मुस्लिम देशों को इसकी कोई जरूरत क्यों नहीं है? फिर, यदि सूफी यात्रा के प्रतिनिधि सहिष्णुता और मानवीयता के हामी हैं तो क्या शरीयत के आदेश सहनशील और मानवतावादी हैं? अथवा वह इस्लाम की विकृत व्याख्या है? यदि नहीं तो सेक्यूलर राजनीति से शरीयत का सम्बन्ध क्या है? ऐसे अनेक प्रश्न न केवल इस चुनाव-यात्रा प्रसंग में सटीक थे, बल्कि इस सूफी अभियान को समझने के लिए भी प्रासंगिक थे। इन प्रश्नों के सूफी उत्तर में हरेक भारतीय की गहरी रुचि है। पर ऐसे प्रश्न कभी नहीं पूछे जाते।

क्योंकि तब असुविधाजनक स्थिति पैदा हो जाएगी। औलिया के लिबास में छिपी इस्लामी राजनीति तुरत सामने आ जाएगी। मीडिया में जानकर लोगों को उफ्त प्रश्नों के उत्तर मालूम हैं। किन्तु उसे व्यक्त करने के बदले छिपाना राजनीतिक फैशन

है। वस्तुतः जिन्हें उत्तर मालूम नहीं, उनकी संख्या बहुत बड़ी है। उन्हीं के लिए ऐसी सूफी यात्राएँ निकाली जाती हैं। पहले भी निकाली गई थीं। तब भी संदेश यही था। बीजेपी को हराओ। वस्तुतः भारतीय राजनीति में इस दल को हराने के लिए हर तरीका जायज माना जाता है। चूँकि हिन्दुओं में सूफियों के प्रति एकांगी धारणा फैली हुई है, इसलिए बीजेपी को हराने में इसका भी उपयोग है।

इस्लाम में राजनीति आरम्भ से ही अभिन्न रही हैदीन व दौला जहाँ तक सूफी मुस्लिमों की बात है, तो उनका इतिहास विशेषकर दारुल-हर्ब की राजनीति से जुड़ा रहा है। इसीलिए, भारत में सूफी सक्रियता इस्लाम में प्रभुत्व की सीमाओं पर ही अधिक मिलती है। अर्थात् जहाँ अभी तक इस्लामी प्रभुत्व कायम नहीं हुआ, वहाँ भी इस्लाम का 'नूर' फैले, यही सूफियों का मुख्य मकसद था। इसके लिए अनेक सूफियों ने जिहाद कर खूनी लड़ाइयाँ भी की हैं। कर्नाटक और महाराष्ट्र में ऐसे अनेक सूफियों की दास्तानें सर्वविदित हैं। गुलबर्गा में तेरहवीं सदी के एक सूफी सैयद हुसम अल-दीन तेग बरान्हा के तो नाम में ही तेग बरान्हा यानी 'नंगी तलवार' जुड़ा हुआ है, जो वे हाथ में लिए चलते थे।[4] मुहम्मद इब्राहीम जुबैरी द्वारा संकलित *रॉजत-अल-औलिया*[5] तथा अब्दुल जब्बार मल्कापुरी द्वारा दो खण्डों में संकलित *तजकिरा-ए-औलिया-ए-दकन* (हैदराबाद, 1912-13) में ऐसे अनेक सूफियों की जीवनियाँ मिलती हैं।

प्रायः सूफी प्रयास इस्लामी विस्तारवाद के सचेत अंग रहे हैं। यहाँ अधिकांश सूफी अरब या मध्य एशिया से आते थे। प्रायः वे किसी नए इलाके पर कब्जे को जाने वाली इस्लामी सेनाओं के साथ जाते थे और लड़ाइयाँ लड़ते थे। जैसे, प्रसिद्ध पीर मबारी खन्दायत। वे दिल्ली से अल्लाउद्दीन खिजली की सेनाओं के साथ दक्षिण गए थे और बीजापुर पर नियन्त्रण करने में बड़ी भूमिका निभाई थी। इस्लामी इतिहास में खन्दायत की ख्याति बड़े जिहादी लड़ाके की है। इसीलिए अनातोलिया से लेकर अफगानिस्तान तक, ऐसे कई सूफी एक साथ *गाजी* (जिहादी लड़ाई करने वाले) और *औलिया* दोनों कहलाते थे। 'गाजी-बाबा' शब्द का चलन उसी से हुआ जो आज भी तालिबानों के बीच चलता है। इसी प्रकार, दक्षिण-पश्चिमी भारत में मशहूर शेख सूफी सरमस्त की ख्याति अपने चुने हुए लड़कों के साथ सैनिक अभियान चलाकर हिन्दू राजाओं के खात्मों की ही है।[6] सूफी सरमस्त अरब से आए थे। शेख अली पहलवान, शेख शाहिद, पीर जुमना आदि जैसे इस तरह के कई अन्य सूफी थे।

रिचर्ड ईटन की प्रसिद्ध पुस्तक *सूफीज ऑफ बीजापुर* (प्रिंसटन, 1978) में उस क्षेत्र के सूफियों का चार शताब्दी का विस्तृत वर्णन है। इसमें 'लड़के सूफियों' पर एक पूरा अध्याय है[7]। ईटन के अनुसार सूफियों के बारे में शान्ति-प्रेमी ईश्वरभक्त होने की सामान्य धारणा गलत है। दक्षिण भारत की ओर जाने वाले पहले सूफी जिहादी लड़ाके ही थे। तब उत्तर भारत जहाँ दिल्ली सल्तनत का राज था, वहाँ उनकी भूमिका समझी जा सकती है। ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती भी मध्य एशिया से शहाबुद्दीन गोरी के सैन्य

आक्रमण के साथ ही (1190-1192ई.) अजमेर आए थे। उनके बीच सहयोग पूर्ण सम्बन्ध थे। इस्लामी स्रोतों के अनुसार चिश्ती के सहयोग से ही शहाबुद्दीन गोरी को पृथ्वीराज चौहान को अंततः हराने और मार डालने में मदद मिली थी।[8] स्वयं मोइनुद्दीन चिश्ती के शब्दों में, ''हमने पिथौरा (पृथ्वीराज चौहान) को जीवित पकड़ा और उसे इस्लामी सेना के सुपर्द कर दिया।''[9]

दक्षिण भारत इस्लामी प्रभुत्व में नहीं था। इसलिए वहाँ, ईटन के अनुसार, ''दारुल हर्ब की राजनीतिक पृष्ठभूमि में ये सूफी प्रायः जिहाद लड़ते हुए, मुश्किल स्थितियों में भी अनगिनत काफिरों का कत्ल करते हुए, और इस प्रक्रिया में खुद भी मारे जाते और शहीद होते मिलते हैं।''[10] कई लड़ाके सूफी अजमेर वाले मोईनुद्दीन चिश्ती और उनके ही शागिर्द, और उनके शागिर्दों, जैसे निजामुद्दीन चिश्ती, के शागिर्द थे। ऐसा भी हुआ कि सैनिक लड़ाई में भारी सफलता पाए सरदार को भी सूफी का दर्जा देकर किंवंदितयाँ जोड़ दी गईं। किन्तु सभी मामलों में सूफियों की किसी आध्यात्मिक उपलब्धि का जिक्र खोजे नहीं मिलता। तमाम ख्याति 'काफिरों को इस्लाम तले लाने' में सफलता की ही नोट की गई है। चाहे वह जैसे हो। बहला-फुसला कर, फरेब से या तलवार से। इसीलिए पीर-मुरीद का सम्बन्ध कई बार सीधे कमाण्डर-सैनिक जैसा ही होता था।

सूफियों की राजनीतिक भूमिका मुख्यतः इस्लाम का प्रभुत्व फैलाने की, दारुल-हर्ब को दारुल-इस्लाम में बदलने की रही है। यह इससे भी स्पष्ट होता है कि जिस इलाके में इस्लामी राज पूरी तरह जम चुका हो, वहाँ से वे चले भी चले भी जाते थे। ईटन के शब्दों में, ''जिस क्षेत्र में इस्लाम का राजनीतिक दबदबा पूरी तरह कायम हो चुका, वहाँ उनकी जरूरत नहीं रह जाती थी।''[11] शायद इसी तर्क से हम भारत के लोकसभा चुनाव में 'वर्ल्ड सूफी काउंसिल' की सक्रियता को ठीक-ठीक समझ सकते हैं, जो ईरान या अफगानिस्तान जाकर सेक्यूलरिज्म की जीत सुनिश्चित करने की जरूरत नहीं महसूस करती।

2

हिन्दुओं में समन्वय शब्द के प्रति जबर्दस्त मोह है। इस मोह का यहाँ सेक्यूलर-वामपंथी लेखकों, प्रचारकों ने जम कर दुरुपयोग किया है। इसी संदर्भ में सूफीवाद के प्रति फैली इस नितांत भ्रामक धारणा को समझा जा सकता है कि यह इस्लाम और हिन्दू धर्म के समन्वय का प्रतीक है। यह प्रचार हिन्दुओं की समन्वयवादी भावना का दुरुपयोग करने के लिए किया गया है, यह इससे भी स्पष्ट है कि सूफीवाद के बारे में ऐसा प्रचार केवल भारत में किया जाता है। अरब या यूरोपीय लेखन में यह बात कहीं नहीं मिलेगी। सच यह है कि दुनिया के और यहाँ के भी सबसे बड़े सूफियों ने इसे बार-बार दुहराया है कि सूफीवाद इस्लाम के अधीन है और सरीयत को सर्वोपरि मानता है।

अल जुनैद बगदादी (830-910 ई.) सूफीवाद के एक बड़े प्रणेता थे। उन्हें शेख-उल-राह जैसी बड़ी-बड़ी उपाधियों से याद किया जाता है। उन्होंने जोर देकर, दो टूक कहा था कि सूफियों के रहस्यवादी रास्ते पर मनमानी बातें कहने, करने की छूट नहीं है। उनके शब्दों में, ''जो खूदा के पैगम्बर (मुहम्मद) के मार्ग पर चलता हो, उसके सिवा सभी रहस्यवादी रास्ते निषिद्ध हैं।'' सूफीवाद के सभी बड़े सिद्धान्तकारों ने यही दुहराया। उदाहरण के लिए, ग्याहरवीं सदी के अल हुजवीरी तथा अल गजाली, दोनों ने बताया कि इस्लाम के आंतरिक और बाह्य पक्षों में भेद नहीं दिखना चाहिए, तथा सभी पक्षों को हर हाल में पैगम्बर के इलहाम से स्थापित खुदाई कानून, यानी शरीयत के अधीन रहना चाहिए।

अल हुजवीरी ने सत्य, यथार्थ और कानून की जो परिभाषा दी, वह सूफियों की चर्चा करते हुए सदैव याद रखने लायक है। उनके शब्दों में, ''ये शब्द कि अल्लाह के सिवा कोई ईश्वर नहीं है ही सत्य है, और ये शब्द कि मुहम्मद अल्लाह का दूत हैं ही कानून है।''[12] उन्हीं का कथन यह भी है : ''किसी गैर-मुस्लिम को कभी सम्मान से नहीं देखा जा सकता, क्योंकि दो विपरीत कभी नहीं मिल सकते।'' और ''अल्लाह ने मुसलमानों को सभी दूसरों से ऊँचा बनाया है और मुहम्मद के मजहब को बचाने का कौल दिया है।''[13] अल हुजवीरी ने गैर-मुस्लिमों के विरुद्ध जिहाद की लड़ाई को भी बड़ा ऊँचा स्थान दिया। उनके अनुसार, ''कोई भी सूफी, यहाँ तक कि सबसे पहुँचा हुआ सूफी भी मजहबी कानून (शरीयत) के पालन के कर्तव्य से मुक्त नहीं हो सकता''[14], कि "जो रहस्यवादी रास्ते पर चलने के नाम पर शरीयत की उपेक्षा करे वह इस्लाम से भटकाव"[15] है, कि ''शरीयत का पालन किए बगैर हकीकत को कायम नहीं रखा जा सकता। दोनों के आपसी सम्बन्ध शरीर और रूह जैसे हैं।''[16] शेख अबू मुहम्मद अल-तुस्तारी ने ''बहुदेववाद'' को इस्लाम की अस्वीकृति[17] और इसलिए अपराध माना था। ऐसे विचार बार-बार अनेक बड़े-बड़े सूफियों द्वारा स्वयं व्यक्त किए गए हैं। इस प्रकार, सूफीवाद का मूल विश्वास इस्लाम के अधीन है।

अतः सूफी मत को किसी इस्लामेतर मत से समन्वय के रूप में देखना नितान्त दोषपूर्ण है। जबकि इसके बारे में ठीक यही बातसमन्वय और सहिष्णुताभारत में प्रचलित की गई है। बल्कि सूफीवाद का केंद्रीय महत्त्व ही इसी में बताया जाता है। जो भ्रम यहाँ फैले हुए हैं, उसका एक रूप और है। सूफीवाद को इस्लाम का एक तरीका मानने वाले भी इसमें तरह-तरह के मनोहारी विचार भर देते हैं, जिनका वास्तविक सूफी मत, इतिहास और व्यवहार में कोई स्थान नहीं मिलता। ऐसे लोग मानो उपनिषद् के सारे ज्ञान और भगवान बुद्ध के विचारों को भी कुरान और हदीस में मिलता बता देते हैं। इस तरह, समन्वयवादी और इस्लामी दोनों ही रूपों में सूफीवाद के बारे में भारत में कई मिथ्या धारणाएँ ही सर्वाधिक प्रचारित हुई हैं।

सूफीवाद को इस्लाम का मूल तत्त्व बताना भी सत्य-संगत नहीं है। यदि भारत में कुछ लोग सूफीवाद को किसी उच्च दर्शन और ईश्वर से सीधे साक्षात्कार के रहस्य मार्ग के रूप में दिखाते हैं तो यह अज्ञान से लेकर धूर्तता तक कई कारणों से होता है। इसका एक संकेत तो इसी से मिलता है कि ऐसी बातों का प्रचार-प्रसार सदैव गैर-मुस्लिम देशों में होता है। क्या यह विचित्र नहीं कि इस्लामी वर्चस्व वाले दर्जनों देशों में, जहाँ इस्लामी अध्ययन, शिक्षण की पूरी परम्परा और बड़े विस्तृत इल्मी मरकज, मदरसे हों वहाँ कोई सूफीवाद के बारे में वैसी मनोहारी बातें न कहे, जो भारत जैसे देश में कही जाती है?

उदाहरण के लिए, सादिया देहलवी ने अपनी सद्यः प्रकाशित पुस्तक *सूफीज्मः द हर्ट ऑफ इस्लाम* में यही सब कहने की कोशिश की है। यह लगभग एक नियम है कि किसी विषय पर मुस्लिम विद्वानों द्वारा गैर-मुस्लिम देशों में एक बात कही जाती है, और मुस्लिम देशों में दूसरी बात। चाहे विषय धर्म, दर्शन, राजनीति, इतिहास, कुछ भी क्यों न हो। यह इस्लाम के राजनीति से अभिन्न सम्बन्ध (*दीन-व-दौला*) के कारण होता है। सूफीवाद की चर्चा भी यह दोहरा रूप रखती है। यह इस्लाम के प्रति गैर-मुस्लिमों को भरमाने के उद्देश्य से होता है (यदि प्रस्तुतकर्ता किसी उदार गैर-इस्लामी समाज में रहते-रहते इस्लाम के प्रति स्वयं भ्रमित न हो तो)। सादिया को ही लें। उनके अनुसार, ‘‘इस्लाम धैर्य, प्रेम, कला और सहिष्णुता से सम्बन्धित है’’।[18] वह ऐसी ही बहुत सी मधुर बातें कहती हैं। जबकि इस्लाम की मोटी जानकारी रखने वाला भी जानता है कि नृत्य, संगीत, चित्र आदि पूरी कला ही इस्लाम में निषिद्ध है। उसे ‘कुफ्र’ कहा गया है। भारत में भी असंख्य मदरसों में वर्णमाला पढ़ाते हुए ही मुस्लिम बच्चों को कला के प्रति इस्लामी आदेश से आगाह कराया जाता है। उदाहरणार्थ, पश्चिम बंगाल में बरुआ रहमानी अहले हदीस एजुकेशन सोसाइटी के तमाम मदरसों में वर्णमाला की पुस्तक में ‘ढ’ अक्षर के लिए प्रयोग रूप में यह वाक्य हैः ‘‘ढोल ताबला ए खोदार लानत’’ यानी ढोल और तबले पर खुदा की लानत है![19]

तो क्या यह मदरसे गलत हैं और सादिया देहलवी सही हैं? जी नहीं। इस्लाम के बारे में मदरसे सही शिक्षा दे रहे हैं। पूरे अरब विश्व पर नजर दौड़ाएँ। वह संगीत, नृत्य, चित्रकला आदि सभी कलाओं में लगभग कोरा है। वहाँ संगीत या फिल्म-उद्योग नाम की चीज ही नहीं। क्योंकि चित्र बनाना, चित्र खींचना ही गुनाह है! हदीसों में इसके अनेक निर्देश हैं। इसीलिए वर्तमान में भी अयातुल्ला खुमैनी से लेकर देवबन्द तक, अनेक आधिकारिक उलेमा नृत्य, संगीत, चित्र, फिल्म आदि कला के सभी रूपों के प्रति कठोर फतवे भी देते रहे हैं। हाल में इस्लामाबाद की प्रसिद्ध लाल मस्जिद के मौलाना अब्दुल अजीज ने पाकिस्तानी युवाओं को धमकाया था कि ‘‘जो लोग नाच-गाना पसन्द करते हैं, वे भारत चले जाएँ’’, क्योंकि यदि पाकिस्तान में रहना हो तो ‘‘शरियत या शहादत’’ में से एक चुनना पड़ेगा। भारत में भी दारुल उलूम, देवबन्द

के विचार ऐसे ही हैं। यह विश्व का दूसरा सबसे बड़ा इस्लामी इल्म केन्द्र कहा जाता है। इसलिए इसके निर्देश का सैद्धान्तिक महत्त्व गम्भीरता से लेना चाहिए। इसके रेसिडेन्ट मुफ्ती ने दो वर्ष पहले फतवा दिया था कि ''अपने पास की सभी तस्वीरें जला दो। दूसरों के पास भी जो तस्वीरें हैं, उन्हें भी लेकर जला दो''। हाल में देवबन्द के ही मुफ्ती मोहतमिम फजलुर्रहमान हिलाल उस्मानी ने संगीत के खिलाफ भी फतवा जारी किया। उनके अनुसार, ''संगीत की इस्लाम में कोई गुँजाइश नहीं है''। यह ठीक कह रहे हैं। सादिया गलत लिख रही हैं। या तो वह हिन्दू विचारों से इतनी प्रभावित हैं कि इस्लाम से उसके घाल-मेल का लोभ संवरण नहीं कर पा रहीं; अथवा, भारत की स्थिति में इस्लाम के प्रति लोगों को नरम बनाने के लिए कालिदास का सौन्दर्य कुरान में दिखाना चाहती हैं।

वास्तव में, कला के प्रति इस्लामी आदेश निषेध का ही है। उसका कहीं पालन न होना या पूरी तरह न होना, सिनेमा, टी.वी. स्टूडियो, थिएटर आदि चलना या प्रतिबन्धित रहना इस्लामी शक्तियों के पर्याप्त बलशाली होने, न होने से सम्बन्धित है। अफगानिस्तान में तालिबानी शासन में अथवा उसके प्रभाव के पाकिस्तानी क्षेत्रों में भी इसीलिए टेलीविजन, सीडी, कैसेट, सैलून आदि जला दिए गए थे; पाकिस्तान और ईरान में भी समय-समय पर जलाए जाते हैं। पर तालिबान शासन को किसी आधिकारिक इस्लामी संस्थान ने 'गैर-इस्लामी' नहीं कहा। कुछ कहा गया तो यही कि वह 'सबसे सच्चा इस्लामी' था। अतः मुहम्मद रफी, बेगम अख्तर या सलमान खान निश्चित रूप से गैर-इस्लामी कार्य करते रहे हैं, यह बात नहीं झुठलाई जा सकती। हर आलिम इसकी ताईद करेगा, चाहे साथ ही किन्तु-परन्तु करके अपनी बुद्धि से किसी हिन्दू जिज्ञासु को जिज्ञासा से विरत करने का प्रयत्न भी।

यह सच है कि ऐसी सूफी भी हुए, जो कुरान और हदीस के बन्धनों को नहीं मानते थे। जो बिना किसी मध्यस्थ, यानी पैगम्बर, के ईश्वर की लौ लगाते थे। ऐसे मुस्लिम रचनाकार और शासक भी हुए जो मानवतावाद और समानता को सर्वोपरि महत्त्व देते हुए इस्लामी आदेशों की अधिक परवाह नहीं करते थे। जैसे, राबिया, बुल्लेशाह, गालिब, मीर या अन्तिम मुगल बादशाह बहादुरशाह जफर। जफर खुद एक सूफी पीर माने जाते थे। वह वास्तव में उदार थे। महान शायर गालिब उनके दरबार में थे। मगर उलेमा जफर के सूफीवाद और मजहबी आदेशों के प्रति नरम रुख रखने के कारण उसके विरुद्ध थे। यहाँ तक कि उन्होंने एक बार जफर को मजहब-द्रोही कहकर बहिष्कृत करने की भी धमकी दी थी।

इस प्रकार, भारत में सात सौ वर्षों तक हिन्दू दर्शन, जन-जीवन के साथ रहने के बाद भी इस्लामी नेतृत्व का यह व्यवहार था! वे कुरान और सुन्ना से तनिक भी विचलन और अपने लोगों पर गैर-इस्लामी प्रभावों को बर्दाश्त करने के लिए तैयार न थे। तब यह मध्यकालीन भारत के 'कम्पोजिट कल्चर', मेल-जोल, सहिष्णुता, गंगा-जमुनी तहजीब आदि का गल्प किसके लिए, किस उद्देश्य से प्रचारित किया जाता है?

गालिब की रचनाएँ अत्यन्त प्रभावशाली होने पर भी इस्लामी बन्धनों से मुक्त थीं। बल्कि इसलिए भी वे महान हो सकीं। उनका प्रसिद्ध शेर ''हमको मालूम है जन्नत की हकीकत लेकिन...'' केवल व्यंजना में नहीं लिखी गई थी। अपने किसी दूसरे शेर में उन्होंने काबा के बाद में भी लिखा है कि वह एक दिशा-सूचक होने से अधिक कुछ नहीं है। ऊपर दिल से अल्लाह को पाने की चर्चा में गालिब के विचार और भी गम्भीर दिशा में जाते है, (जिससे भी दिखता है कि आज सूफीवाद के प्रति कितनी भ्रामक धारणाएँ प्रचलित हैं)। केवल हृदय से भगवान को पाने, सीधे ईश्वर से लौ लगाने की धारणा नितान्त हिन्दू धारणा है। इसका क्लासिक सूफीवाद से कोई सम्बन्ध नहीं। जो सूफी या शायर ऐसा कहते रहे हैं, उन्हें उलेमा उचित ही खरिज करते थे। क्योंकि वैसे लोग समय के साथ अल्लाह की वैसी समझ का इस्लाम से विपरीत सम्बन्ध को समझे बिना नहीं रह सकते थे। गालिब एक बार बनारस जाकर गंगाजी के पास मग्न हो गए थे। अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा जो चाहता है इस्लाम को अलविदा कहकर माथे पर तिलक लगा लूँ, जनेऊ धारण कर लूँ और यहीं बस जाऊँ। ताकि जीवन की अपवित्रताओं को धोकर इस नदी की एक बूँद की तरह इसका हो जाऊँ।[20]

अर्थात् गालिब सचेत रूप से इस्लाम की कई बुनियादी मान्यताओं को खारिज करते थे। इस्लाम में एक मात्र उपलब्धि जन्नत ही है, जिसे गालिब हेय मानते थे। अपने मित्र को लिखे एक पत्र में गालिब ने इसे जोर देकर स्पष्ट किया है :

"ठीक है कि जन्नत में सुबह होते ही विशुद्ध मदिरा पी सकूंगा, जो कुरान में लिखा है। लेकिन वहाँ नशे में लड़खड़ाते दोस्तों के साथ रात की लम्बी सैर कहाँ मयस्सर होगी, या पीकर खुशी मनाने वाली भीड़ कहाँ होगी? बरसात के बादलों को देखकर मिलने वाला नशा वहाँ कहाँ मिलेगा? जहाँ पतझड़ न होती हो, वहाँ वसन्त का अस्तित्व ही कैसे होगा? यदि खूबसूरत हूरें वहाँ हर वक्त उपलब्ध रहती हैं, तब विरह की उदासी और मिलन के सुख कहाँ होंगे? वहाँ ऐसी लड़की कहाँ होगी जो हमारे चूमने पर भाग जाएगी?''[21]

यह व्याख्या किसी सामान्य सहृदय पाठक को कितनी ही सहज क्यों न लगे, किसी इस्लामी आलिम के लिए बहुत नागरवार है। क्योंकि यह इस्लाम के एक मात्र ईनाम और सर्वोच्च वस्तुजन्नतको ही हेय ठहराता है। इसीलिए आधिकारिक इस्लामी परम्परा ऐसे कवियों, शायरों, सूफियों को तनिक भी बर्दाश्त नहीं करती। उन्हें 'कुफ्र' यानी इस्लामी शब्दावली में सबसे घृणित चीज से प्रभावित, इसलिए बुरी दृष्टि से देखा जाता है।

कुफ्र-प्रभावित होने की बात ठीक भी है, क्योंकि ऐसे मुस्लिम प्रायः केवल भारत में हुए जहाँ हिन्दू दर्शन और जीवन-पद्धति से उन्होंने सीखा। भारत से बाहर मुस्लिम जगत में ऐसे सूफी, कवि या शासक ढूँढना कठिन है। इसीलिए सूफीवाद की मनोहारी

दिखाई जाने वाली बातें वास्तव में हिन्दू बातें हैं जिनका सच्चा-झूठा क्षेपक करके भारत में सूफीवाद की विशिष्ट धारणा बनाई गई है। इसमें यह केंद्रीय बात गोल कर दी जाती है कि सचमुच के उदार सूफी या शायर सदैव शररीयत से दूर हटकर ही हुए। जैसे, गालिब या मीर। और यह भी कि इस्लामी तारीख में ऐसे लोगों को कहीं महत्त्व नहीं दिया जाता। इन दो विन्दुओं को दरकिनार कर देने से सूफीवाद की पूरी चर्चा भ्रामक हो जाती है।

बुल्लेशाह जैसे केवल रहस्यवाद की बात करने और राजनीति से निरपेक्ष रहने वाले सूफी बहुत ही कम हुए हैं। और इस्लामी इतिहास में उन जैसों की कोई कद्र नहीं है। वहाँ केवल वैसे सूफी ही मान्य हैं, जिन्होंने केवल वेष बदला है, मूल इस्लामी विचारों को नहीं। जैसे, मोईनुद्दीन चिश्ती, निजामुद्दीन औलिया, अमीर खुसरो, शेख चिराग (चिराग दिल्ली), शेख सरहिन्दी, शाह वलीउल्लाह, आदि। ऐसे ही सूफियों का झूठा-सच्चा चित्रण इस्लामी तारीख में मिलता है। मोईनुद्दीन या निजामुद्दीन जैसों के प्रति हिन्दू जनता के आदर को 'इस्लाम की श्रेष्ठता' के प्रमाण के रूप में लहराया जाता है, किसी समन्वयवादी, मिली-जुली संस्कृति के रूप में नहीं। यह कोई इक्के-दुक्के उलेमा ही नहीं करते। लगभग सम्पूर्ण मुस्लिम बौद्धिकता उसे इसी रूप में देखती है।

इसीलिए, मोईनुद्दीन की दरगाह पर हिन्दुओं का चाहे स्वागत हो; किन्तु किसी हिन्दू स्थल, हिन्दू सन्त के पास मुस्लिमों का जाना उन्हें सख्त नागवार लगता है। इसे सख्ती से रोका जाता है, जैसे हाल के वर्षों में स्वामी रामदेव के योग शिविरों में जाने से मुस्लिमों को रोका गया। मिली-जुली संस्कृति के गल्प में इस वास्तविकता पर ध्यान देना चाहिएकि इसे हमेशा एक-तरफा रखा गया है। हिन्दू मुस्लिम स्थानों पर आएँ, पर मुस्लिम हिन्दू स्थानों पर न जाएँ। सदियों से यह प्रवृति यथावत रही है और ऐसा सचेत रूप में किया गया है। इसी प्रवृति का रूप है कि सूफियों द्वारा सेक्यूलरिज्म के नाम पर बीजेपी से सावधान कराया जाए, किन्तु इंडियन मुजाहिदीन, जमाते इस्लामी या लश्करे तोयबा, सिमी आदि से नहीं। सूफी और इस्लामी राजनीति की यह सचेत क्रिया है, जिसे नजरअन्दाज कर सूफियों का गुण-गान करने वाले हमारा भारी अहित कर रहे हैं। वामपंथी लेखक तो जान-बूझ कर ऐसा करते हैं।

वैसे लेखक और प्रचारक सन्त कबीर को 'सबसे बड़ा सूफी' बताते[22] हैं, चाहे सूफियों पर लिखे आधिकारिक इस्लामी ग्रन्थों में कबीर का उल्लेख शायद ही कहीं मिलता है। क्योंकि कबीर ने इस्लामी अन्धविश्वासों की खुली आलोचना की थीः 'कांकर पाथर जोड़ि के मस्जिद लियो बनाय, ता चढ़ मुल्ला बाँग दै क्या बहिरा हुआ खुदाय''। ऐसी सन्त-वाणियों की इस्लामी रणनीतिकारो को कोई जरूरत नहीं। इसीलिए, शरीयत से तनिक भी विचलित होने वाले सूफियों को मुस्लिम इतिहास में कोई प्रतिष्ठा नहीं दी गई है। शायर अल्लामा इकबाल ने तो ऐसे सूफियों को 'इस्लाम के राजनीतिक पतन के दौर की उपज'[23] बताया था जब 'इस्लाम में आलस्य और

जड़ता’ आ गई थी। इससे भी पुष्टि होती है कि दूसरे प्रकार के सूफी क्या होते थे (और जब इस्लाम में आलस्य और जड़ता नहीं होती, तो उसका अर्थ क्या होता है)! सूफियों के उलेमा से जो वैचारिक मतभेद रहे हों, शरीयत को सर्वोच्च मानने और हिन्दुओं को नीच या उपेक्षणीय समझने में वे प्रायः एक रहे हैं।

उदाहरण के लिए शेख निजामुद्दीन औलिया (1244-1325) और उनके पक्के शागिर्द अमीर खुसरो के विचारों का जायजा लिया जा सकता है। औलिया चिश्ती सम्प्रदाय के प्रसिद्ध सूफी थे। किन्तु वे क्लासिक इस्लामी पंथ के सूफी थे जिनके लिए शरीयत सर्वोपरि था और गैर-मुस्लिम विचारों, प्रभावों के वे सख्त खिलाफ थे। दिल्ली सल्तनत के सुलतानों से उनका अच्छा सम्बन्ध था और वे काफिरों पर ‘इस्लाम की सेना’ की जीत के लिए दुआएँ करते थे। उन सेनाओं द्वारा हिन्दुओं को मार कर, लूट कर लाए गए धन का उपहार सुलतानों से लेने में उन्हें कोई संकोच न होता था। एक बार अल्लाउद्दीन खिलजी को दक्षिण विजय के लिए भेजी गई अपनी सेना की कोई खबर बहुत दिन तक नहीं मिली तो उसने निजामुद्दीन औलिया से पुछवाया कि उन्हें कुछ पता है कि ‘इस्लाम की सेना’ किस हाल में है। औलिया ने उनके संदेशवाहक को सन्तुष्ट करते हुए दिलासा दिया कि वे आगे भी बड़ी जीतों की उम्मीद कर रहे हैं।[24] जहाँ तक औलिया के दार्शनिक, आध्यात्मिक या सन्त जैसे गुणों की बात है तो गहराई से परखने पर कुछ नहीं मिलता! पसिद्ध इतिहासकार के. ए. निजामी ने उनकी बडी जीवनी लिखी है। उसमें लिखे वर्णनों से औलिया की एक साधारण छवि बनती है।

उदाहरण के लिए, ऐसे वर्णनों से क्या अर्थ निकलता है कि अलाँ और फलाँ सुलतान ने निजामुद्दीन औलिया की कद्र नहीं की तो औलिया ने उनकी मृत्यु कामना की, और वे दोनों सुल्तान अकाल मौत को प्राप्त हुए।[25] सामान्य विवेक, विशेषकर हिन्दू दृष्टि से तो ऐसे व्यक्ति को अहंकारी और निम्न भावना का ही कहा जाएगा। किन्तु निजामी की पुस्तक ऐसे ही प्रसंगों से भरी है जिससे औलिया की कोई आध्यात्मिक, दार्शनिक विशेषता या सिद्धि का प्रमाण नहीं मिलता। एक अन्य प्रसंग में औलिया कहते हैं कि उलेमा का हुक्म बिना ना-नुच के मानना चाहिए, यही व्यक्ति के प्रेम का प्रमाण होगा। इससे उसे लाभ यह होगा कि ‘‘उसके पाप उसके कर्मों की किताब में नहीं लिखे जाएँगे’’।[26] एक तरह से यह किसी पापी को प्रलोभन है कि वह पाप करते रहने का सुख उठा सकता है, बशर्ते उलेमा का हुक्म मानता रहे। जैसे किसी अपराधी को कहा जाए कि फलां की बात मानते चलो तो कितना भी अपराध करने पर तुम्हारे खिलाफ कार्रवाई नहीं होगी। यह कैसी सन्त-वाणी है। पर हिन्दू दृष्टि से ही इसे बुरा कहा जा सकता है। सेमेटिक मजहबों में नहीं, जहाँ व्यक्ति का आचार नहीं, उसका मजहब में विश्वास, *फेथ*, ही केन्द्रीय तत्त्व है। उस दृष्टि से औलिया सामान्य बात ही कह रहे थे।

हिन्दुओं के प्रति निजामुद्दीन औलिया का रूख खुली घृणा नहीं तो उन्हें नीचा समझने की उपेक्षा का अवश्य था। उन्होंने स्वयं कहा था कि 'उलेमा जो कार्य अपने विचारों से करते हैं, वही हम अपने व्यवहार से'। के. ए. निजामी की पुस्तक से भी इसकी पृष्टि होती है। इसमें ''रिलेशंस विथ नॉन-मुस्लिम्स'' शीर्षक एक छः पृष्ठों का संक्षिप्त अध्याय है। यह संक्षिप्ता स्वयं प्रमाण है कि खोजने पर भी इतिहासकार को औलिया द्वारा गैर-मुस्लिमों के प्रति अच्छा कहा कुछ न मिला। किंवदन्ती भी नहीं, जिससे पूरी पुस्तक भरी है। इस अध्याय के आरम्भ में एक प्रसंग है कि एक दिन औलिया छत पर खड़े यमुना की ओर देख रहे थे। वहाँ हिन्दू श्रद्धालू स्नान, पूजा आदि कर रहे थे। तब औलिया ने फारसी में कहा, ''हर लोगों का अपना मजहब होता है और इबादत की जगह होती है।''[27] उस समय औलिया के साथ उनके परम भक्त शायर अमीर खुसरो भी खड़े थे। यह सुनकर उन्होंने उसी तुक में दूसरी पंक्ति जोड़ दी, ''मैंने अपना किबला तिरछी टोपी वाले की तरफ कर लिया है।'' यहाँ तिरछी टोपी वाले से अर्थ निजामुद्दीन औलिया से है। यह दोनों पंक्तियों हिन्दुओं के प्रति सकारात्मक भाव रखने का कोई स्पष्ट संकेत भी नही देती, खुल कर कुछ मानना तो दूर की बात।

पर उन दो पंक्ति को उद्धृत करने के बाद इतिहासकार निजामी ने अपनी तरफ से पूरा पाराग्राफ घोषित कर दिया है कि कैसे उस पंक्ति से दिखता है कि मध्यकालीन भारत की संस्कृति सहिष्णुता और विभिन्न धर्मों के सहअस्तित्व की थी। गैर-मुस्लिमों के प्रति निजामुद्दीन औलिया के सकारात्मक रुख पर किसी तरह खींच-तान कर कुछ जोड़ने की कोशिश तब और स्पष्ट हो जाती है जब उसके बाद इतिहासकार औलिया को छोड़ अमीर खुसरों के वैसे ही अस्पष्ट कुछ और विचारों को उद्धृत करते हैं। उसके बाद, उसे खुसरों के बदले औलिया के सहनशील, समन्वयकारी होने के प्रमाण के रूप में पेश कर देते हैं।[28] आगे औलिया द्वारा वर्णित तीन सांकेतिक छोटी-छोटी कहानी दी गई हैं जो कभी उन्होंने मिलने वालों के सामने कही थी। उनसे भी स्वयं कोई अर्थ नहीं निकलता कि वे गैर-मुस्लिमों के प्रति दयालु थे। बल्कि एक कहानी से तो कुछ उलटा ही दिखता है। औलिया द्वारा कही गई वह कहानी इस प्रकार है, ''ख्वाजा हमीदुद्दीन नागौरी ने तो एक बार किसी हिन्दू को 'वली' तक कह दिया। ऐसा इसलिए कि केवल अल्लाह ही जानता है कि किसी आदमी का अन्त क्या होगा। इसलिए किसी को किसी के बारे में निर्णय नहीं देना चाहिए।'' कथन की पहली पंक्ति तो यही संकेत करनी है कि तब हिन्दू को वली (सन्त) कह देना अत्यन्त अस्वाभाविक बात थी। इससे बेचारों की स्थिति का पता चलता है। दूसरे, औलिया उस कथन का बचाव जिस तरह से कर रहे हैं वह इसकी पुष्टि करता है कि हिन्दू अभी वली नहीं हो सकता। मगर बाद में, कौन जाने...। प्रसंग से उनकी यह आशा झलकती है कि वह हिन्दू बाद में मुसलमान बन जा सकता है।

जो भी हो, पूरी पुस्तक के मात्र संक्षिप्त छः पन्नों में यदि औलिया के गैर-मुस्लिमों के प्रति सम्बन्ध के बारे में बस यही कुछ गोल-मोल है तो साफ है कि बात कुछ छिपाने या बनाने की ही है। क्योंकि *फुवैद अल-फौद* में गैर-मुस्लिमों के बारे में औलिया के स्पष्ट विचार कुछ इस तरह उद्धृत किए गए मिलते हैं, ''काफिरों को मरते वक्त सजा मिलेगी। तब वे मुस्लिम बनने की कोशिश करेंगे, लेकिन इसे उनके विश्वास के रूप में नहीं माना जाएगा....मरते वक्त किसी का (इस्लाम पर) विश्वास कबूल करना स्वीकार नहीं किया जा सकता।''[29]

अमीर खुसरो के विचार भी उसी तरह परखने योग्य हैं। निजामुद्दीन औलिया के समर्पित शार्गिद होने के साथ-साथ स्वयं सूफी शायर के रूप में उनकी बड़ी ख्याति है। आज के भारतीय उच्च वर्ग में तो खुसरो को सूफीवाद और कथित 'गंगा-जमुनी संस्कृति' का सबसे फैशनेबल प्रतीक[30] माना जाता है। इस वर्ग को पता नहीं या इसके लिए यह अर्थहीन है कि खुसरो को गहरा मलाल था कि भारत से हिन्दुत्व को खत्म नहीं किया जा सकता। कि हिन्दुओं को जजिया टैक्स देकर जान बचा सकते की अनुमति दे देने के कारण ही इस देश को सदा के लिए दारुल इस्लाम बनाने का मौका हाथ से निकल गया। अमीर खुसरो के अपने शब्दों में :

"हमारे मजहबी योद्धाओं की तलवार के बल पर यह पूरा देश (भारत) ऐसा बन गया जैसे आग जंगल को काँटों से रहित कर देती है। यह धरती तलवार के पानी से सिक्त हो गई और कुफ्र (हिन्दुत्व) की भाप छिन्न-भिन्न हो गई। हिन्द के शक्तिशाली लोग पाँव के नीचे कुचल डाले गए...यदि कानून ने व्यक्ति-कर। (जजिया) देकर जान बचाने की मन्जूरी न दी होती, तो हिन्द का नाम, जड़-मूल समेत, मिट गया होता।"[31]

समझना कठिन है कि ऐसे सूफी शायर को किस बुद्धि से हिन्दू-मुस्लिम मेल-जोल और गंगा-जमुनी संस्कृति का प्रतीक कहा जाता है। तो किसी सूफी द्वारा जजिया की आलोचना मिलती भी है तो इसी रूप में! अन्यथा पूरे इतिहास में किसी सूफी मुस्लिम ने हिन्दुओं पर जजिया-टैक्स लगाने का विरोध नहीं किया। किसी सूफी ने दिल्ली सल्तनत के सुलतानों और मुगल बादशाहों को हिन्दू मन्दिर तोड़ने से मना नहीं किया था।

सूफियों के नृत्य, संगीत पर तो सबसे अधिक प्रशंसा के पुल बाँधे गए हैं। किन्तु निजामुद्दीन औलिया ने यह पूछे जाने पर कि अल्लाह का नाम लेते हुए क्या नृत्य करना या बाँसुरी या हारमोनियम आदि बजाने की अनुमति है? उन्होंने दो टूक उत्तर दिया, ''जिसकी कानून (शरीयत) में मनाही है, उसे स्वीकृति नहीं दी जा सकती।''[32]

अन्य प्रसिद्ध सूफी शेख नसीरुद्दीन चिराग (चिराग दिल्ली के रूप में मशहूर) भी इसी श्रेणी में थे। उनके अनुसार हर कार्य की अनुशंसा कुरान और सुन्ना से होनी चाहिए। अन्यथा वह प्रतिबन्धित है, ''जो भी अल्लाह और उसके रसूल ने हुक्म दिया

है तुम वह पूरा करो, और जो भी अल्लाह और उसके रसूल ने मना किया है वह तुम कभी न करो''। इसीलिए उन्होंने भी अपने यहाँ श्रद्धालुओं द्वारा झुककर अभिवादन करने, दिए जलाने, संगीत आदि को प्रतिबन्धित कर दिया था। वे मजारों पर जाने के भी विरुद्ध थे। इतिहासकार के.ए. निजामी द्वारा लिखित उनकी जीवनी में उल्लेख है कि शेख चिराग ने सूफियों के बीच प्रचलित सभी हिन्दू प्रभावों को दूर किया और उनके विचारों, कामों को शरीयत के अनुरूप बनाने का प्रयास किया।[33]

महमूद गजनवी से लेकर औरंगजेब तक, सदियों में, किसी सूफी का जिक्र नहीं मिलता जिसने हिन्दुओं के प्रति उनकी किसी क्रूरता का विरोध किया हो। उलटे कई सूफी उसके लिए सल्तनत और मुगल बादशाहों से इसरार करते थे। जैसे, शेख सरहिन्दी जो सूफियों के नक्शबंदी सम्प्रदाय के संस्थापक थे। उन्होंने सूफी शेख फरीद को एक पत्र में लिखा था कि काफिरों को अपमानित करना इस्लाम की शान के लिए जरूरी है। कई नामी सूफियों ने विदेशी मुस्लिमों को भारत पर हमले का न्योता दिया। यह सूफी शाह वलीउल्ला (1703-1762) ही थे जिन्होंने अफगानिस्तान के अहमद शाह अब्दाली को मराठाओं पर हमला करने के लिए बुलाया था, ताकि यहाँ इस्लामी राज फिर कायम किया जा सके। यही पानीपत की तीसरी लड़ाई थी।

शाह वलीउल्लाह की ख्याति पूरे इतिहास में भारत के सबसे बड़े इस्लामी आलिम के रूप में है। वे अरब के प्रसिद्ध इब्न अब्दुल बहाव के समकालनी थे। बल्कि दोनों ने मदीना के हिजाज में एक ही समय इस्लाम का अध्ययन किया था। दोनों ही इस्लाम के बड़े सुधारक माने गए। वैसे, इस्लाम में सुधार का अर्थ हमेशा 'मूल इस्लाम की ओर लौटना' यानी कट्टरपंथ को बढ़ावा होता है। वलीउल्लाह और अब्दुल बहाव इसके अपवाद नहीं थे। अब्दुल बहाव ने अरब में इस्लामी शुद्धता का अभियान चलाया। उसी 'बहावी' आन्दोलन के आधुनिक अनुयायी अल कायदा समेत अधिकांश कट्टरपंथी संगठन हैं। शाह वलीउल्लाह के विचार अब्दुल बहाव से काफी मिलते जुलते थे। उन्होंने भी भारत आने के बाद इस्लाम में आ गए विचलन, विजातीय प्रभावों और विकृतियों के खिलाफ जिहाद छेड़ दिया।[34]

शाह वलीउल्लाह और बाद में उनके बेटे शाह अब्दुल अजीज ने सूफियाँ द्वारा हिन्दू प्रभावों को ग्रहण करने का जबर्दस्त विरोध किया। जैसे, सन्तों के प्रति श्रद्धा जिसे वे मूर्तिपूजा जैसा मानकर घृणित समझते थे, हिन्दुओं के पवित्र स्थलों का आदर और वहाँ की तीर्थयात्रा, हिन्दू ज्योतिषियों से मिलना जुलना, स्त्रियों द्वारा नाक-छेदन कराना, मजारों पर दिए जलाना, तीर्थ स्थलों पर भक्ति संगीत तथा हिन्दू त्योहार मनाना। मुसलमानों द्वारा यह सब करना हिन्दुओं की संगति से आया हुआ कुफ्र था, जिसका शाह वलीउल्लाह ने कड़ा विरोध किया था।[35] यहाँ तक कि केले के पत्ते पर खाना भी उन्हें नागवार था।

वलीउल्लाह चाहते थे कि मुस्लिम समाज हर चीज में कुरान का अनुकरण करे। इसलिए उन्होंने कुरान का फारसी में तथा बाद में उनके बेटे ने उर्दू में अनुवाद किया, ताकि मुसलमान जान सके कि उनसे मजहब की क्या अपेक्षाएँ हैं और वे हिन्दू प्रभावों से नितांत मुक्त हों। शाह वलीउल्लाह ने मुगल बादशाहों को हिन्दू स्त्रियों से विवाह करना भी अनुचित माना, जो इस्लाम में धर्मांतरित करा दिए जाने के बाद भी तरह-तरह की हिन्दू रीतियों का पालन करती रहती थीं। उन प्रभावों से भी कई मुगल महलों के रस्मो-रिवाज में धीरे-धीरे हिन्दू प्रभाव छनकर आते रहे थे। उन प्रभावों से भी कई मुगल शासक और अधिकारी उदारवादी सूफियों, शायरों का आदर-सत्कार करने लगे थे। वलीउल्लाह के अनुसार यह सब लगभग कुफ्र और इस्लाम को भ्रष्ट करने जैसा था।

अल्लाह की इबादत मुसलमान क्यों करे, इसकी व्याख्या में भी वलीउल्लाह ने हिन्दू प्रभावों को छोड़ने का आह्वान किया। कुछ सूफियों और मुस्लिम कवियों ने अल्लाह को प्रेम से जोड़कर देखा था। उन्होंने कहाँ कि हम अल्लाह की इबादत इसलिए करते हैं कि वह हमें प्रेम करता है। वलीउल्लाह के अनुसार यह गैर-इस्लामी धारणा है, जिससे हर प्रकर के पूजा-पाठ को स्वीकृति मिल जाती है। क्योंकि यदि अल्लाह प्रेमी और दयालु है तब जो व्यक्ति उसे प्रेमपूर्वक, जैसे भी स्मरण करे, वह स्वीकार्य हो जाएगा। यदि अल्लाह का सम्बन्ध उसके प्रति दिली मुहब्बत से है, तब तो वह किसी हिन्दू पर भी कृपालु होगा! तब इस्लाम के कलमे का, अल्लाह के रसूल काइनकी अनिवार्यता काक्या बचेगा। इसलिए वह सरासर गलत है। सही इस्लामी धारणा यह है कि अल्लाह ने अपने रसूल के माध्यम से हमें इबादत का और रसूल का हर हुक्म मानने का हुक्म दिया है। अतः प्रेम नहीं, हुक्म।

इस्लामी आक्रान्ताओं को भारत न्योतने की सूफी परम्परा यहाँ हाल तक चलती रही है। उन्हीं वलीउल्लाह के पोते शाह इस्माइल और उनके संगी सैयद अहमद बरेलवी ने सिखों के खिलाफ जिहाद करने के लिए पख्तून सरदार अखुंद गफूर और दोस्त मुहम्मद खान को बुलाया था। अखुन्द गफूर खुद सूफी माना जाता था। सैयद अहमद बरेलवी ने 1830 में सिखों और अंग्रेजों के विरूद्ध जिहाद का आह्वान किया था। मदरसा रहीमिया से उन्होंने मध्य एशिया के मुस्लिम शासकों को चिट्ठी भेजकर 'भारत को अंग्रेजों से मुक्त कराने का न्योता भेजा था जो 'इस्लामी संस्कृति को भ्रष्ट कर रहे थे'। अगले वर्ष बरेलवी मारे गए किन्तु उनके जिहादी दस्तों के बचे-खुचे अवशेष पेशावर, अम्बाला, दिल्ली, पटना और दूसरे स्थानों पर भूमिगत रूप से काम करते रहे।[36] बीसवीं सदी में भी यहाँ के कुछ आलिमों ने अफगानों को भारत पर हमले के लिए बुलाया था। खलीफत जिहाद (1919-24) के दौर में भारतीय राजनीति में इस पर चर्चा थी। अफगानों को भारत पर आक्रमण के लिए बुलाए जाने और उन्हें भारतीय मुस्लिम नेताओं के समर्थन के सम्बन्ध में एनी बेसेन्ट, रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि ने भी चिन्ता व्यक्त की थी।

क्या सूफी राजनीति की वह अदाएँ आज खत्म हो गई हैं, या उसने केवल भेष बदला है? लोकसभा चुनाव में 'सेक्यूलर' राजनीति को मदद पहुँचाने के घोषित उद्देश्य से निकली इस सूफी-सन्त यात्रा से यह प्रश्न अवश्य पूछा जाना चाहिए था। यदि नहीं पूछा गया तो मुख्यतः इस कारण कि हमारे आम पत्रकारों को, जैसे कि प्रायः पूरे शिक्षित समाज को, सूफी मत के इतिहास, दर्शन और भूमिका के बारे में सच्चाई मालूम नहीं है। वैसे, सूफीवाद के बारे में संकीर्ण या दोषपूर्ण प्रचार विविध कारणों से है। उनमें एक कारण कूटनीति भी है।

3

हिन्दुओं ने मुस्लिम सूफी सन्तों को उतना आदर दिया है जितना मुस्लिम समाज ने नहीं। अजमेर में मोईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह में हिन्दू दर्शनार्थियों की भीड़ और चढ़ावा सदैव अधिक होता है। वे इस बात से अनजान हैं कि वास्तव में वे सूफी-सन्त क्या थे। बहुतों के लिए इसका कोई अर्थ नहीं। यह तब तक कोई बड़ी बात नहीं जब तक भारत की जनसांख्यिकी यथावत रहती है। किन्तु देश में इस्लामी मतावलम्बियों का प्रतिशत बढ़ने के साथ-साथ एक घातक परिणाम अनिवार्यतः छिपा है, जिसे अच्छे-से-अच्छे मुस्लिम सदाशयी भी नहीं रोक सकते। पाकिस्तान और बंगलादेश ही नहीं, देश के अन्दर भी असम, पश्चिम बंगाल आदि का उदाहरण शिक्षाप्रद है। यही चीज दूर लेबनान या इंडोनेशिया, मलेशिया आदि में भी देखी जा सकती है। इन सम्भावनाओं की दृष्टि से भारतीय उच्च वर्ग में सूफियों के प्रति अज्ञानपूर्ण श्रद्धा चिन्ताजनक हो जाती है।

यदि सादिया जैसी मुस्लिम लेखिका सूफीवाद को नितांत एकांगी रूप से दिखाती हैं अथवा इस्लाम को विजातीय, 'काफिराना' चीजों जैसे कला से सम्बन्धित बताती हैं तो ऐसा करने के अलग-अलग कारण हो सकते हैं। इसमें एक यह भी कि एक गैर-इस्लामी देश में ऐसा कहना इस्लाम के सम्भावित प्रभुत्व की रणनीति के लिए उपयोगी है। (ठीक उसी तरह जैसे जमाते-इस्लामी जैसे संगठन और मुस्लिम नेता भारत में सेक्यूलरिज्म की झण्डाबरदारी करते हैं जो सिद्धान्तः इस्लाम-विरुद्ध होते हुए भी भारत में इस्लाम के दबदबे का औजार है)। एक ओर शरीयत, जिहाद समेत इस्लाम के सभी मूल तत्त्वों का बचाव करना तथा दूसरी ओर सूफीवाद को इस्लाम का दिल बताकर इसमें तरह-तरह की मनमोहक चीजें दिखाना अन्तर्विरोधी कार्य लग सकता है। जैसा सादिया देहलवी कर रही हैं।

यह इस्लामी रणनीति की अल तकिया तकनीक[37] का हिस्सा है। शरीयत में ही यह कहा गया है 'जरूरत पड़ने पर वर्जित काम भी किए जा सकते हैं'। वैसे भी, राजनीति के अनुभवी होने के कारण उलेमा इस तरकीब का उपयोग जानते हैं कि किसी दारुल हर्ब, यानी गैर-मुस्लिम देश में मुसलमान ऐसे कार्य कर सकता है जो

इस्लाम के अनुरूप न हों, किन्तु अंततः उसे दारुल इस्लाम, यानी इस्लामी देश बनाने में उपयोगी हो सके। इस रूप में, भारत में सूफीवाद के बारे में सच के बदले हिन्दुओं को लुभाने वाली बातें कहना 'काफिरों' को इस्लाम के प्रति अचेत बनाकर उन्हें, मुग्ध-मुद्रा में लाता है। ताकि जब तक इस्लामी शक्तियाँ पर्याप्त बल संचित न कर लें, और इस्लामी निजाम कायम करने की ताकत न जुटा लें तब तक भ्रम में डूबे काफिर संगठित न हों। यह कोई दूर की कौड़ी नहीं है। इसे स्वयं सादिया कि किताब की सबसे आधिकारिक इस्लामी ग्रन्थों और ऊपर वर्णित सबसे बड़े और प्रसिद्ध सूफियों के विचारों से तुलना करके समझा सकता है। यह मानने का कोई कारण नहीं है कि यहाँ देवबंद तथा अरब देशों की सैकड़ों बड़ी-बड़ी इस्लामी हस्तियों, आलिमों, उलेमा और संस्थानों को इस्लाम से कला के संबंध के बारे में वह बात पता न हो जो दिल्ली में बैठी सदिया को है।

निस्संदेह सूफीवाद के कई रूप हैं। किंतु जिस रूप में उसकी भारत और पश्चिमी विद्वत जगत में मान्यता है, उसमें उदार हिन्दू आचार-विचार को ही सूफीवाद कह दिया जाता रहा है। इसमें दोहरी हानि है। एक, हिन्दू धर्म को उस का श्रेय न देना; दूसरे, इस्लाम के बारे में भ्रामक मान्यताओं को प्रोत्साहन। कुछ लोग जानबूझ कर ऐसा करते हैं, इस खयाल से कि ऐसा कर वे इस्लामी मनोवृत्ति को समन्वयकारी बना सकेंगे। ऐसे लोगों को कुरान, हदीस, मुहम्मद की जीवनी, इस्लाम का इतिहास, पाकिस्तान आंदोलन और इस सबके प्रति गाँधीवादी नीति का गंभीरता पूर्वक अध्ययन व मूल्यांकन स्वयं करना चाहिए। अन्यथा वे देश की और अपनी भी हानि करते रहेंगे।

संदर्भ-टिप्पणियाँ

1. टाइम्स ऑफ इंडिया, 17 अप्रैल 2009
2. पटना, 13 अप्रैल, 2009, आई.ए.एन.एस. की रिपोर्ट।
3. उदाहरण के लिए देखें, "वक्त की लय के साथ" और "चमत्कारी असर", इंडिया टुडे नई दिल्ली, 27 मार्च, 2002। इनमें सूफी विचार, परंपरा आदि के बारे में एक से एक बातें कही गई हैं। बिना किसी साक्ष्य या संदर्भ के कि किन सूफी स्रोतों में वे मनमोहक बातें मिली हैं।
4. रिचर्ड मैक्सवेल ईटन, *सुफीज ऑफ बीजापुर,* 1300-1700; *सोशल रोल ऑफ सूफीज* इन मेडियेवल इंडिया (न्यू जर्सीः प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1978), पृ 32
5. हैदराबाद की आफिया लाइब्रेरी में उपलब्ध, *तजकिरा* संख्या 266
6. अब्दुल जब्बार मल्कापुरी, *तजकिरा-ए-औलिया-ए-दकन* (हैदराबाद : हसल प्रेस, 1912-13), खंड 1 पृ.460 और आगे
7. रिचर्ड मैक्सवेल ईटन, ऊपर संदर्भ सं. 3, पृ.1941

8. उदाहरण के लिए देखें, http://www.mustafai.com/Peraonalities/garibnawaz/Defeat.htm
9. एस. ए. ए. रिजवी, *ए हिस्ट ्री ऑफ सूफीज्म इन इंडिया, वॉल्यूम-1,* (नई दिल्लीः मुंशीराम मनोहरलाल, 1978), पृ. 116
10. रिचर्ड मैक्सवेल ईटन, उपर्युक्त, पृ.19
11. वही, पृ. 33
12. *कश्फ-अल-महजूब,* (दिल्लीः ताज कंपनी, 1982), पृ. 140
13. वही, पृ. 152, 213
14. वही, पृ. xxi
15. वही, पृ. 14
16. वही, पृ. 383
17. वही, पृ. 139
18. *"द न्यू सूफी बार्ड",* द पायोनियर, नई दिल्ली, 5 मई, 2009 में उद्धृत।
19. इंडिया टुडे, नई दिल्ली, 25 जून, 2001
20. पवन कुमार वर्मा, *गालिबः द मैन,* टाइम्स (नई दिल्ली, 1989), पृ.51 डालरिंपल द्वारा *द लास्ट मुगल* (लई दिल्लीः पेंग्विन, 2006), पृ. 80 पर उद्धृत।
21. रैल्फ रसेल (सं), *गालिबः द पोएट एंड हिज एज* (लंदन, 1975), पृ. 81. डालरिंपल द्वारा *द लास्ट मुगल* (नई दिल्लीः पेंग्विन, 2006), पृ. 80 पर उदधृत।
22. दीपा एम. ओल्लापल्ली, *द पॉलिटिक्स ऑफ एक्सट्रीमिज्म इन साउथ एशिया* (दिल्लीः कैंम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस 2009), पृ. 32. जिस संदर्भ में वे इसे याद करते हैं वही उनका उद्देश्य स्पष्ट कर देता है कि साउथ एशिया (पाकिस्तान या अफगानिस्तान नहीं) के उग्रवाद (आतंकवाद या जिहाद नहीं) में इस्लाम को कोई कारक या बड़ा कारक बिलकुल न समझा जाए। यह तो हमेशा सूफियों, गंगा-जमुनी तहजीबों और प्यार-मुहब्बत की जमीन रही है। इस्लामी उग्रवाद की बात करना गलत तरीके से स्थिति को देखना है। यह पुस्तक इसका उदाहरण है। आरंभ में ही जिस तरह सूफीवाद की अप्रासंगिक चर्चा विस्तार है और शरीयत की चर्चा पूरी पुस्तक में सिरे से गायब है, उससे मंतव्य स्पष्ट होता है। पुराने समय के अनाम किस्म के किसी मुस्लिम संत की प्रशंसा और हाल के सावरकर, गोलवलकर जैसों की खिंचाई भी वही संकेत है। साथ ही, अनावश्यक रूप से भारत में पूरे इस्लामी इतिहास को मनोहारी रूप में दिखाया गया है जिसकी क्रूरताओं में मजहबी उद्देश्य कहीं न था। जैसे, लेखिका के अनुसार, यदि मुस्लिम शासकों ने मंदिर तोड़े भी तो तोड़ने वाले उनके सेनापति हिन्दू थे (पृ.31), आदि। इस प्रकार, वर्तमान और इतिहास का पूरा विकृतिकरण, जो ऑक्सफॉर्ड-कैम्ब्रिज-जेएनयू जैसी विद्वता की पहचान बन चुकी है कि कहीं किसी प्रसंग में इस्लाम पर किसी भी प्रकार का दोष न जाए, श्रेय ही श्रेय उसका हो। दोष सदैव हिन्दुओं का दिखे, पहले भी और आज भी।

23. रफीक जाकरिया द्वारा उद्धृत। देखें, मुहम्मद इकबाल, *शिकवा और जबावे शिकवा,* खुशवंत सिंह (अनु.), (दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1999) में उनका लिखा "फोरवर्ड", पृ. 910
24. के. ए. निजामी, *द लाइफ एंड टाइम्स ऑफ शेख निजामुद्दीन औलिया* (नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड, 2007), पृ. 119
25. वही, पृ. 128, 130. यह सुलतान मुबारक खिजली और सुलतान गयासुद्दीन तुगलक के बारे में है।
26. फवैद अल फौद से। शशि एस. शर्मा, *कैलिफ एंड सुल्तान* (नई दिल्लीः रूपा, 2004), पृ. 22627
27. वही पृ. 135. यह इतिहासकार द्वारा दिए गए अंग्रेजी रूपांतर का हिन्दी रूप है। वास्तविक अर्थ भिन्न भी हो सकता है, क्योंकि अलग-अलग जानकर एक ही फारसी पंक्ति के कुछ भिन्न अर्थ बता देते हैं। ऐसा इस लेखक ने अनुभव से पाया है।
28. वही, पृ. 135136
29. *फवैद अल फौद* से। शशि एस. शर्मा, *कैलिफ एंड सुल्तान* (नई दिल्लीः रूपा, 2004), पृ. 22829
30. दिल्ली में कुछ वर्ष पहले हुए एक अंतर्राष्ट्रीय सूफी संगीत कार्यक्रम का नाम ही था, 'जहान ए खुसरो'।
31. प्रसिद्ध इतिहासकार रमेश चंद्र मजूमदार द्वारा उद्धृत। "एकेडमिक फ्रीडम", मेनस्ट्रीम (अंग्रेजी साप्ताहिक), नई दिल्ली, 10 दिसंबर, 1977। उद्धरण इतिहास-लेखन पर चल रही बहस के संदर्भ में था। इसका उत्तर देते हुए मार्क्सवादी इतिहासकार हरबंस मुखिया ने पत्रिका के अगले अंक में लिखा कि हाँ, खुसरो ने यह 'हिन्दू-विरोधी' बातें कही थीं, किंतु उसने दूसरी अच्छी बातें भी तो कहीं।
32. *फवैद अल फॉद* से। शशि एस. शर्मा, *कैलिफ एंड सुलतान* (नई दिल्लः रूपा, 2004), पृ. 226
33. के. ए. निजामी, *द लाइफ एंड टाइम्स ऑफ शेख नसिरूद्दीन चिराग*(1991) से। शशि एस. शर्मा, *कैलिफ एंड सुलतान* (नई दिल्लीः रूपा, 2004), पृ. 22728
34. अजीज अहमद, *स्टडीज इन इस्लामिक कल्चर इन द इंडियन इनवायररमेंट* (ऑक्र्सफोर्डः 1964), पृ. 201, 210. विलियम डालरिंपल द्वारा *द लास्ट मुगल* (नई दिल्लीः पेंग्विन, 2006), पृ. 76 पर उद्धृत।
35. विलियम डालरिंपल, *द लास्ट मुगल* (नई दिल्लीः पेंग्विन, 2006) पृ. 76
36. वही, पृ. 83
37. एक व्याख्या के लिए फ्लोरिडा इंटरनेशनल यूनिव्रसिटी में डिपार्टमेंट ऑफ रिलीजन में प्रोफेसर वालिद फारेज का विश्लेषण देखा जा सकता है।
http://www.freeman.org/m_online/dec97/phares.htm